Chap-3

तृतीय अध्याय

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

व्यक्तित्व से सुदर्शन, आचरण से कर्मठ, स्वभाव से विनम्र, अध्ययन से गंभीर, रूचि से कलात्मक, कर्म से प्राध्यापक और धर्म से लेखक डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी स्वाधीनता से पूर्व उस युग विशेष की देन हैं, जब मात्र कर्म की प्रधानता ही धर्मधारित थी। प्रत्येक भारतवासी कर्म को धर्म रुप में जीता था, और धर्म ही कर्म के रुप में साकार होता था। जैसे, जीवन जियो परन्तु स्वयं के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए। मगर दूसरा कौन? कोई भी नहीं। जब सभी अपने हैं, तब दूसरे का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थात् जीना धर्माधारित था, और कर्म था परोपकार। तत्कालीन साहित्य में इसी व्यावहारिक दृष्टि को अभिव्यक्ति मिल रही थी। कर्म मूलतः होता है यथार्थाधारित और जो कथाकार बीसवीं सदी के प्रारम्भ में और मध्यकाल के यथार्थ के स्वर को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे, उनमें मुख्य थे – प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, आ. चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जयशंकर प्रसाद, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार

आदि। इसी कोटि के अंतर्गत आने वाले अन्य कथाकार भी रचनात्मक संवेदना को साहित्य के अतीन्द्रिय मोहपाश से मुक्त करने में यथाशक्ति प्रतिभा का सदुपयोग कर रहे थे। इन सशक्त कथाकारों के द्वारा जो साहित्यिक रचनाएँ लिखी जा रही थीं, उनका वाचन भी प्रेरणा स्वरूप हो रहा था, और इस सृजनात्मक प्रयास को गतिशील भी बनाया जा रहा था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सन्निकट का रचनात्मक काल होने के कारण इसमें स्वतन्त्रता का स्वर मुख्य रुप से निनादित हो रहा था। धार्मिक कूपमण्डूकता से मुक्ति, गरीबी और अमीरी की असमानता के प्रति विद्रोह, जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं और मान्यताओं का उन्मूलन, जाति और सम्प्रदायगत अत्याचारों के खिलाफ खुला उल्लंघन, अंधविश्वास तथा अज्ञानता के उच्छेदन आदि की लहर इतनी सशक्त रुप से देश और समाज में फैली हुई थी, कि कोई भी उत्कृष्ट रचना इससे अछूती न रह पाती थी। एक तरफ जहाँ गॉधीवादी जीवन-दर्शन जन-मानस को उद्वेलित कर रहा था, वहीं दूसरी तरफ मार्क्सवादी विचारधारा सामान्य जन-जीवन को कम अनुप्राणित नहीं कर रही थी। हर तरफ जन-जागरण का अभियान इतना सशक्त था, कि सदियों की दासता पंख फैलाकर धरती को छोड़ आकाश में उड़ती हुई नजर आ रही थी। कुछ ऐसी ही सम्वेदनाओं से मिला-जुला साहित्य जन-जन का जीवन-पथ प्रदर्शित कर रहा था। ऐसे ही साहित्य के अध्ययन, चिन्तन और मनन ने डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी की सृजनात्मक प्रवृत्ति को सम्प्रेरित, विनिर्मित और संवलित किया। संयोगवश 'वाल्मीकि' संज्ञाधारी होने के कारण अध्ययन में ऐसे मग्न हुए कि डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी के रुप में ही प्रकट हुए।

प्राकट्य और परिकर :

उत्तर प्रदेश के तथाकथित औद्योगिक नगर कानपुर में आपका जन्म 24 जुलाई 1934 को एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। पारिवारिक वातावरण ग्रामीण था। पितामह का मूल निवास गाँव नगर के निकट होने के कारण ग्रामीण रहन-सहन, खान-पान नगरीय सभ्यता-संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित था। आधुनिक सभ्यता अथवा पाश्चात्य-संस्कृति का दूर-दूर तक परिचय न था। डॉ. त्रिपाठी के जीवन चरित्र के विषय में विस्तृत तथा आधिकारिक जानकारी

नहीं मिल पा रही थी, जो कुछ भी सूचनाएँ यत्र-तत्र मिलती भी थीं, वे अत्यल्प तथा अपर्याप्त थीं। मैंने व्यक्तिगत रुप से डॉ. त्रिपाठी को पत्र लिखकर इस सन्दर्भ में उनकी सहायता की याचना की और उन्होंने अपनी आत्मकथा की टंकित प्रति जो अब तक अप्रकाशित थी; मुझे देने की अनुकम्पा की, मैं इस आत्मकथा को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रही हूँ जिससे डॉ. त्रिपाठी के जीवन चरित्र तथा उनके व्यक्तित्व के प्रति अधिकतम जानकारी ज्ञापित हो सके। डॉ. त्रिपाठी के ही शब्दों में, "मेरी मॉ के कथनानुसार खपरैल की छत के नीचे मेरा जन्म हुआ था। उस दिन पथरा चौथ थी। लोग रात्रिकाल में दूसरों के घरों पर ईंट, कंकड़-पत्थर आदि फेंकते थे, इस बात की चिन्ता किए बगैर कि पत्थर किसको लगेगा और उससे उसे कितना कष्ट होगा। जिस खपरैल की छत के नीचे मेरी मॉ मुझे लिए हुए लेटी थीं, उस पर एक पत्थर आ गिरा जिससे खपरैल के टूटने की आवाज़ पैदा हुई। खपरैल के नीचे यदि बाँसों का जाल न होता तो कदाचित् मैं उस रात्रि के पश्चात् आने वाले प्रभात की रोशनी देख ही न पाता, किन्तु सौभाग्य की बात यह हुई कि खपरैल का जो टुकड़ा टूट कर नीचे आ गिरा, उसने मेरी माँ के पैर को हल्की चोट ही पहुँचाई थी, और मैं बाल-बाल बच गया था। कदाचित् इसीलिए मॉ मुझे 'बाल' फिर 'बाले' की संज्ञा से सम्बोधित करती थीं। पारिवारिक वातावरण ग्रामीण होने के कारण घर का सारा काम मेरी माँ को ही करना पड़ता था। काम से फुरसत न पाने के कारण माँ की गोद मुझे तभी मिल पाती थी, जब मैं भूखा होता था, वरना या तो मैं सामान्य बिस्तर (कथरी) पर पड़ा रहता था, या फिर परिवार के अन्य सदस्यों में से कोई मुझे गोद में उठा लिया करता था। पिताजी को रोटी कमाने के लिए सुबह से शाम तक घर से बाहर रहना पड़ता था। परिवार तो ब्राह्मण का था किन्तु ब्राह्मण कर्म के कहीं भी नामोनिशान तक न थे। नितान्त अशिक्षित परिवार था। दादी प्रायः चर्चा छिड़ने पर बताया करती थीं कि बाबा भृगुसंहिता के प्रकाण्ड पंडित थे। दूर-दूर तक उनके पाण्डित्य की ख्याति थी। जब भी किसी सम्पन्न परिवार में से किसी बालक का जन्मकाल निकट होता था तो बाबा (पंडित जी) को बुलाया जाता था। वह घोड़े पर सवार होकर अघारी (एक प्रकार का ग्रामीण झोला) में हस्तलिखित भृगुसंहिता की पोथी रख कर सगर्व जाया करते थे। रास्ते भर 'पांय लागी या चरन छुई पंडित जी' की कण्ठ ध्वनियाँ उनके कानों में पड़ती रहती थीं। आशीर्वाद की बौछार कर सबकी कुशलक्षेम पूछते हुए वह गन्तव्य की ओर

गतिमान बने रहते थे। बाबा का सम्मानित जीवन सुखमय था। स्वयं दादी ने ही बताया था कि वह पंडित जी (बाबा) की, (अर्थात् अपने पति को दादी 'पंडित जी' ही सम्बोधित करती थीं) पाँचवीं पत्नी थीं। बाबा के चार ब्याह हो चुके थे और सभी की अकाल मृत्यु हुई थी। बाबा निःसंतान थे। पाण्डित्य की ख्याति और यत्किंचित सम्पन्नता के कारण आग्रहवश बाबा ने पॉचवीं शादी कर ली थी। जन श्रुति प्रचलित थी कि जो भृगुसंहिता से धनोपार्जन कर जीवनयापन करता है, वह निःसंतान मृत्यु को प्राप्त होता है। इस जनश्रुति पर विश्वास करके एक दिन जब बाबा किसी काम से कहीं बाहर गए हुए थे तब परिवारजनों ने घर में जान बूझकर आग लगा दी, जिसमें भृगुसंहिता भी जलकर राख हो गई। बाबा बड़े दुखी हुए। कई दिनों तक वह किसी से कुछ न बोले। जिसने सुना वही दौडा चला आया। आनन-फानन में रहने और खाने-पीने की सब समुचित व्यवस्था हो गई जो पहले से अच्छी थी। धीरे-धीरे सब सामान्य हो चला। कुण्ठस्थ विद्या के बल पर बाबा (पंडित जी) शनैः शनैः सामान्य जीवन जीने लगे। एक-एक, दो-दो वर्षों के अंतराल से बाबा चार संतानों के पिता बने। तीन पुत्र और एक पुत्री, जो सबसे छोटी थी, के भरे-पूरे परिवार होने के कारण बाबा की गतिविधियाँ सीमित हो चलीं थीं। दादी और बाबा के मन बच्चों में एसे रमें कि कभी-कभी उनका घर से बाहर तक निकलना कठिन हो जाता था, किन्तु सन् 1918-19 में ग्रामीण अंचलों में प्लेग महामारी के रुप में ऐसा फैला कि ग्रामीण जन घरों को छोड़कर खेतों की ओर भागे और झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। फिर भी प्लेग की महामारी का दुष्प्रभाव कम न हुआ, और असंख्य ग्रामीण समुचित चिकित्सा व्यवस्था के अभाव में इस असार संसार से विदा हो गए। उन्हीं में से एक मेरे बाबा (पंडित जी) भी थे। बाबा के शरीरांत होने पर पास-पड़ौस के स्त्री-पुरुष एकत्र हुए। दादी ने स्वयं बताया कि पंडित जी की मृत्यु पर वह गुमसुम हो गई थीं। दादी की मॉ ने उसी अवस्था में ही टोका, 'रुकमिनी! पंडित जी नहीं रहे, रोओ, जोर से रोओ। इस तरह तुम्हें पास-पड़ौस की औरते देखेंगी तो क्या सोचेंगीं?"

दादी उस समय इतनी भूखी थीं कि हाथ से मुँह की ओर इशारा करके ही रह गई थीं। दादी ने स्वयं बताया कि भूख के मारे मुँह से आवाज ही न निकल रही थी। उनकी माँ कहीं से बासी-सूखी रोटी लेकर आई और चुपके से अपनी बेटी अर्थात् दादी को खिलाया तब दादी

के मुँह से आवाज निकली और फिर वह दहाड़ मारकर रोने लगीं।

दादी की उस समय की बातें बड़ी रोचक लगती थीं। मैं उन्हें बड़े ध्यान से सुना करता था। वह बताती थीं कि जब पंडित जी नहीं रहे और प्लेग का प्रकोप थमा तब खेतों की झोपड़ियों से किसान अपने घरों की ओर लौटे और जन-जीवन सामान्य रुप में चल पड़ा। शरीर का अंत होते ही पंडित जी के परिवार का गाॅव में वह सम्मान न रहा जो पहले था। दादी को खेतों तक जाना पडा। चारों बच्चे छोटे थे, उनके खेलने-खाने के दिन थे। किसी काम के लायक वे थे ही नहीं। हर जरुरत के लिए दादी को ही घर से बाहर निकलना पड़ता था। जब पिता का साया बच्चों के सिर से उठ जाता है तब दूसरे लोग बच्चों को अनाथ समझकर व्यवहार करते हैं। दादी ने ही एक दिन बताया कि बच्चों ने किसी के खेत से कुछ खाने के लिए चने के कुछ पौधे तोड़ लिए तो खेत के मालिक ने बच्चों को पीटा। दादी को बहुत बुरा लगा। असहाय थीं वह, विधवा थीं। किसी भी रुप में अत्याचारी को सशक्त समझकर कुछ भी प्रतिवाद न कर सकीं। खूँन का घूँट पीकर रह गईं, लेकिन उन्होंने घर के आँगन में अखाड़ा बनाया और तीनों लड़कों को कसरत कराना और आपस में कुश्ती लड़ाना शुरु किया। स्वयं व्यायाम शिक्षक बनकर उन्हें प्रशिक्षित किया। कई वर्ष तक लगातार ऐसे अभ्यास ने जब बच्चों को पर्याप्त सशक्त बना दिया तब दादी ने बच्चों को आदेश दिया, जाओ और उसे इतना मारो कि स्वयं न उठ सके। बच्चों ने भी माँ की आज्ञा का अक्षरसः पालन किया। दादी पास ही खड़ी अपने बच्चों के द्वारा शत्रु को पिटते देख रही थीं। जब शत्रु बेहोश हो गया, तब दादी ने बच्चों को आवाज़ दी, और गाॅव को सदा के लिए प्रणाम कर लिया। वह बच्चों को साथ ले कानपुर नगर की ओर पैदल ही चल पड़ीं। नगर वहाँ से तेरह कोस था। दौड़ते-भागते बिना रुके वह नगर आ गईं। नगर में अपरिचित होने के कारण एक मंदिर में शरण ली। कुछ देर में ही बगल के मकान में रहने की व्यवस्था हो गई। तीनों बच्चे छोटा-मोटा जो भी मिल गया काम करने लगे। शारीरिक सौष्ठव और परिश्रमी स्वभाव ने शीघ्र ही उन्हें स्वावलम्बी बना दिया।

जिस मकान में मैंने ऑखे खोली उसमें बावन किराएदार रहते थे। कोई किराएदार अकेला था, तो कोई पत्नी और बच्चों के साथ रहता था। मकान का कोई भी भाग बारह-चौदह आने के मासिक किराए से अधिक न था। इस किराए को भी अधिकांश किराएदार समय से न

दे पाते थे, क्योंकि प्रायः मकान मालिक आकर किराया न दे पाने के कारण मकान खाली कराने की धमकी दे जाते थे। गरीबी का आलम यह था कि दोनों समय किसी-किसी किराएदार के यहाँ ही चूल्हा जल पाता था। माचिस तक के अभाव में आग एक घर से आखिरी घर तक आया-जाया करती थी। एक कुआँ होने के कारण प्रायः पहले पानी भरने की समस्या उठ खड़ी होती थी और जो अपने को अधिक शक्तिशाली सिद्ध कर पाता था, वही पहले पानी भर पाता था। डोल और बाल्टियाँ तो अलग थी हीं, पानी भरने की रस्सी तक सबकी अपनी थी। कोई भी दिन ऐसा न गुजरता था जब शौच की समस्या को लेकर परस्पर विवाद या मारपीट तक न होती हो। बच्चों और स्त्री-पुरुषों में ही नहीं बल्कि पति-पत्नी तक में प्रायः मारपीट की नौबत आ जाती थी। दिन में बच्चों का परस्पर कोलाहल ही नहीं, रात्रि तक में किसी न किसी कोठरी या कमरे से रोने-कराहने और जान से मारने तक की धमकियाँ सुनने में आतीं थीं। कोई न कोई विवाद या कलह बराबर किसी न किसी कोने में देखा-सुना जा सकता था। वहाँ सभी जाति के विपन्न लोग रहते थे। अमीर तो उस मकान में कोई था नहीं, गरीब थे तो इस सीमा तक कि स्वयं गरीबी भी उन पर तरस खाती थी। हाँ, किसके यहाँ चूल्हा नहीं जला इसकी खबर देर सबेर सभी को लग जाती थी। वहाँ गरीबी की भीड के सिवाय परस्पर प्रेम, स्नेह, सेवा, दया, ममता, त्याग आदि सब कुछ था, अगर कुछ नहीं थी तो शांति और एकता। परस्पर सौहार्दय कब शत्रुता में परिणत हो जाएगा, कहा नहीं जा सकता था। एक मकान अवश्य था वह, किन्तु उसमें सारे संसार का वैविध्य जैसे समाया हुआ था। जीवन धर्म-निर्वाह के प्रयास में किसी को कभी भी सफल-असफल रुप में देखा जा सकता था। परस्पर निकटता इतनी थी कि किसी का कुछ भी किसी से छुपा न रहता था। दुराव-छिपाव की निरर्थक चेष्टा में जी रहे थे उस घर में सभी किराएदार। और मेरी बाल-दृष्टि से कुछ भी छुपा न रह पाता था, बल्कि बाल-बुद्धि विश्लेषण द्वारा किसी न किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचे बिना न रहती थी जिसे सुनकर लोग मेरे मुँह पर मेरी प्रशंसा ही न करते थे, बल्कि पीठ पीछे भी बौद्धिक क्षमता से प्रभावित होने की स्वीकृति प्रकट किया करते थे। ज्यों-ज्यों दूसरों के द्वारा प्रशंसा का रसायन (टॉनिक) मुझे मिल रहा था, त्यों-त्यों मैं अधिकाधिक बौद्धिक क्षमता को अर्जित करने तथा उसे मॉजने-सँवारने की चेष्टा भी उत्तरोत्तर करता था। सबकी हर एक बात मैं ध्यान से सुनता

था। किसी भी सेवा के लिए मैं सदा तत्पर रहता था। किसी भी परिवार में यदि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति आ जाता था तो मैं उसका अधिकाधिक सान्निध्य प्राप्त करने की चेष्टा करता था। कभी किसी के मुँह से निकले हुए वाक्य 'सेवा से कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है' को मैंने जीवन का मूलमंत्र मान लिया था। जो मेरी जिस सेवा का अधिकारी मुझे प्रतीत होता था, उसे मैं कभी निराश न करता था। सेवा ने मेरे बाल्यकाल में ही धर्म का रुप धारण कर लिया था।

मेरी माँ मेरी प्रथम शिक्षक थीं। वह विदुषी तो न थीं, मगर जीवन के व्यावहारिक धर्म का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। पग-पग पर वह मुझे सावधान ही न करतीं थीं, बल्कि जीवन का ऊँच-नीच इस सीमा तक समझाया करती थीं कि बाल्यावस्था में ही प्रौढ़ावस्था की समझ ने मेरे मन-मस्तिष्क को स्पर्श कर लिया था। माँ में सेवा भावना इतनी प्रबल थी कि यदि किसी ने भी उन्हें स्मरण किया तो माँ बिना खाए-पिए उसकी सेवा में दिन-रात एक कर दिया करती थीं। श्रमशीलता की तो वह सजीव मूर्ति थीं। थकना तो जैसे वह जानती ही न थीं। परिश्रम उनके स्वभाव का अभिन्न अंग बन गया था। जब घर का सारा काम स्वयं निबटाकर जब भी वह कहीं किसी पड़ोस में जाती थीं, तब मुझे अपने साथ अवश्य ले लेती थीं। मैं नित नवीन सम्पर्क में आता था। माँ के द्वारा सेवा के व्यावहारिक रुप के दर्शन करता और प्रतिदान में जिस कृतज्ञ भाव की अनुभूति होती, उसने मुझे अत्यधिक संवेदनशील बना दिया था। ग्रामीण बालिका होने के कारण माँ को विद्यालयी शिक्षा तो न प्राप्तहो सकी थी, किन्तु जमींदार घर में पली-पुसी होने के कारण सम्पन्नता का स्वरुप वह अवश्य पहचानती थीं। इस सत्य का आभास न जाने उन्हें कहाँ से हो गया था कि सम्पन्नता शिक्षा के क्रोड़ में ही पलती ही। सभी बुराइयों की जड़ में अशिक्षा ही होती है - रह-रहकर इस सत्य को मंत्र की भाँति मेरे कानों में वह फूँका करती थीं। फलतः जब भी मुझे किसी श्रम से जी चुराना होता था, तभी मैं पुस्तक खोलकर बैठ जाता था। फिर माँ की उपस्थिति में किसी की क्या मजाल जो मुझे किसी काम के लिए पुकार भी सके। भलीभाँति मुझे स्मरण है कि यदि कभी मैं डाँटा भी गया माँ के द्वारा तो मात्र कम पढ़ने के लिए। माँ की उत्कट अभिलाषा थी कि मैं खूब पढ़ूँ, और विद्वान बनूं। कदाचित् माँ की इस साधना को मैंने उनके जीवनकाल में ही पूर्ण कर लिया था, क्योंकि एम.ए.एल.टी., पी.एच.डी. करके मैं महाविद्यालय में शिक्षक बन गया था। माँ जब भी मुझे देखती तो फूली न समातीं और

जब मैं माँ को प्रसन्न चित्त देखता था, तब मुझे अपने जीने की सार्थकता की अनुभूति होती थी।

इसी सन्दर्भ में एक और घटना का उल्लेख समीचीन है। मेरी अवस्था रही होगी लगभग तीन या चार वर्ष की। एक पंडित ज्योतिषी जी किसी पड़ोसी किराएदार के यहाँ पधारे थे। मेरे सामने पड़ने पर उन्होंने मुझसे मेरा नाम पूछा। मेरे मुँह से निकला – 'वाल्मीकि'। मेरे मुँह पर दृष्टि गढ़ाकर उन्होंने फिर प्रश्न किया, 'जानते हो वाल्मीकि कौन थे?' नकारात्मक रुप में मेरा सिर हिला। वह आगे बोले, वाल्मीकि बहुत बड़े लेखक थे। उन्होंने रामायण लिखी है। तुम्हारा नाम भी वाल्मीकि है। लेखक बनना है तुम्हें। बड़ी-बड़ी, मोटी-मोटी पुस्तकें लिखना। ध्यान रहे, तुम्हें 'वाल्मीकि' नाम को सार्थक बनाना है। जब नाम के अनुरूप कर्म होते हैं तभी मानव का जीवन सार्थक कहलाता है। और हॉ, लेखक बनने के लिए खूब मन लगाकर पढ़ना बहुता आवश्यक है। जाओ, जितना ज्यादा पढोगे, उतने ही बड़े लेखक बनोगे। इस शिक्षा को मैं कभी भूल नहीं सका। कभी-कभी सोचता हूँ कि बाल मन में जो बात समा जाती है, वह आजीवन अमिट रुप में गतिविधियों को सम्प्रेरित किया करती हैं। इसे स्वीकार करना अनुचित न होगा कि इस बात का मेरे लेखकीय स्वरुप के धारण करने में पर्याप्त योगदान है।" (आत्मकथा से) वाल्मीकि जी के इस आत्मकथन में उनका जीवनवृत्त बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

<u>प्रेरणा स्रोत :-</u>

जन्मकाल में सामान्य प्रतीत होने वाला मानव का शिशु रूप कालान्तर में क्या रूप धारण करेगा और अपनी क्रियाओं और गतिविधियों की जीवन-जगत् पर क्या छाप छोड़ेगा, अनुमान तक असहज है। किस मनःस्थिति को कौन बात या घटना किस सीमा तक प्रभावित करती है, परिणाम की उपस्थिति के पूर्व जान पाना भी सरल नहीं होता है। लिखित और प्रकाशित पुस्तकों के आधार पर स्वीकारा जा सकता है कि एक नहीं अनेक प्रेरणा-स्रोत रहे हैं मेरे लेखन के। जो पूर्व जन्म के कर्मों का प्रतिफल मानते हैं इस जन्म के कर्मो को, उनसे मैं कभी भी सहमत नहीं हो सका। जो लेखन को दैवीकृपा, वरदान या आशीर्वाद रूप में स्वीकारते हैं, उनसे भी मेरी सहमति कम असहमति ही अधिक है। और जिन्हें लक्ष्य-निष्ठ परिश्रम रूप

सतत साधना में अटूट विश्वास है, उनसे मैं शत-प्रतिशत सहमत ही नहीं हूँ, बल्कि पूर्ण विश्वास के साथ यह दावा भी कर सकता हूँ कि यदि मन में लगन हो, परिश्रम का बल हो, लक्ष्य-निष्ठा प्रबल हो, और हो आत्म-विश्वास तो जीवन का कोई भी रूप धारण किया जा सकता है, किसी भी असंभव को सम्भव के निकट तक लाया जा सकता है, और किसी भी अनुपलब्धि को विश्वसनीय उपलब्धि की सीमा तक की अनुभूति का रसास्वादन किया जा सकता है। अपनी सद्बुद्धि की कसौटी पर कसकर सत्कार्य में संलग्न हो जाओ और तब तक विश्राम न करो जब तक उसकी पूर्णता के साक्षात् दर्शन विश्वसनीयता की परिधि में न कर लो इसकी चिंता किए बगैर कि कर्म किस कोटि का है, क्योंकि कोटि-निर्धारण-कार्य स्रष्टा का कभी नहीं होता है। जीवन-लक्ष्य-पथ पर अटूट आस्था और अविचल विश्वास के साथ सतत गतिमान रहो, एक-न-एक दिन शीर्षस्थ उपलब्धि के दर्शन ही न होंगे, बल्कि वह (कायिक) आधार बनकर साधन रुप में जीवन को अभिनन्दनीय बनाए बिना न रहेगी। वास्तव में, संसार में अभिनन्दनीय यदि कोई है, तो वह है लेखक और अमरत्व की संज्ञा को सार्थकता की कसौटी पर खरा घोषित करनेवाली कोई वस्तु है, तो वह है रचना। क्योंकि समय के गर्त में सभी उपलब्धियाँ अस्तित्वविहीन हो जाती हैं, जबकि रचना समय के साथ-साथ विश्वसनीय विस्तार और प्रसिद्धि की अधिकारिणी प्रमाणित होती है।

डॉ. त्रिपाठी स्वयं कहते हैं कि - "सन् 1953-54 की बात है। जिस मकान में मैं रहता था, उसके बाहरी भाग में पुस्तक की एक दुकान खुली थी। नाम था - 'ग्रंथ कुटीर'। जैसा नाम था वैसी ही दुकान भी थी। दुकान का रुप तो कुटीर का था, किन्तु जो पुस्तकें वहाँ खरीद और विक्री के रुप में आती-जाती थीं, वे ग्रन्थों की गरिमा को विश्वसनीयता प्रदान करती थीं और सवसे वड़ी बात तो यह थी कि नगर की एकमात्र साहित्यिक पुस्तकों का केन्द्र होने के कारण नगर के सभी साहित्य प्रेमी और यदाकदा अन्यान्य स्थानों से आने वाले साहित्यसेवी भी वहाँ अपनी उपस्थिति को सुनिश्चित किया करते थे। मेरे जैसे रचना-प्रिय व्यक्ति के लिए 'ग्रन्थकुटीर' एक अद्भुत संयोग था। इस संयोग का लाभ मैं यथाशक्ति उठाने लगा। हिन्दी और हिन्दी में अनूदित अन्यान्य देशी-विदेशी भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का मैं परायण करने लगा। जो साहित्य सेवी महापुरुष वहाँ यदा-कदा आते, आँखों से तो उनके दर्शन करता ही, उनकी बातों

का मन ही मन रसास्वादन भी किया करता था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों रचना और रचनाकारों के सम्बन्ध में मेरी भ्रामक धारणाएँ निर्मूल होती चली गईं और एक ऐसी विश्वसनीय मनःस्थिति के निर्माण में मैं सफल हो सका कि मैं भी लेख रुप धारण कर सकता हूँ। सहसा जिज्ञासा जाग्रत हुई कि 'कैसे लिखा जाता है।' फिर क्या था।जिज्ञासा प्रस्फुटित हो उठीं, प्रश्नों की बौछार के रुप में। जो भी लेखक आता, उसी की सेवा में उपस्थित हो मैं प्रश्न कर बैठता कि वह कैसे लिखते हैं। कुछ टाल जाते तो, कुछ जिज्ञासा को शांत करने का प्रयत्न भी करते, कुछ ऐसे रचनाकारों के निकट सम्पर्क में भी मैं आया, जिन्होंने रचना-कर्म पर विस्तार से प्रकाश ही न डाला, बल्कि उदाहरण स्वरुप रचनाओं के नमूने के रूप में भी पेश किया। उनमें से श्री प्रतापनारायण मिश्र जी और भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि प्रमुख हैं। इन्हीं की रचनात्मक और मौखिक प्रेरणा के फलस्वरुप मैं रचना-कर्म की ओर प्रवृत्त हुआ।

इतिहास प्रारम्भकाल से ही मेरा प्रिय विषय रहा है। कल्पना की अपेक्षा यथार्थ के अति निकट होने के कारण इतिहास विषय मुझे मनोनुकूल प्रतीत हुआ। इतिहास-रस मुझे साहित्य के अन्यान्य रसों की अपेक्षा अधिक मनोमुग्धकारी लगा। आ. चतुरसेन शास्त्री की रचनाएँ उन दिनों मुझे विशेष प्रिय प्रतीत हुईं। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की रचनाएँ तो मैं खोज-खोज कर पढता था। वृन्दावन लाल वर्मा की रचनाओं ने भी ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन-क्रिया के प्रति मुझे कम सम्प्रेरित नहीं किया, क्योंकि रचना-कौशल से प्रभावित होने के पश्चात् जब मैं उनकी सेवा में प्रस्तुत हुआ, और लेखन के प्रति जिज्ञासापूर्ण अभिरूचि व्यक्त की तो उन्होंने बताया - "उपन्यास को माना जाता है कपोल कथात्मक रचना"। ऐतिहासिक उपन्यास में कम से कम ऐतिहासिक तथ्यों की विश्वसनीयता तो सुरक्षित रहती है। वैसे ऐतिहासिक उपन्यास लेखन अपेक्षाकृत है, कि कठिन कार्य, क्योंकि इतिहास के गर्भ में समाए तथ्यों को प्रामाणिकता के विश्वसनीय स्तर तक लाने के लिए पर्याप्त श्रम और समय की अपेक्षा होती है जो धैर्य तक को चुनौती दिए बिना नहीं मानती है, किन्तु स्थायित्व, लाभ और भावी मार्ग-दर्शन की सुनिश्चितता श्रमसाध्य कार्यों में ही सन्निहित होती है। श्रमशील स्वभाव का स्वामी होने के नाते मैंने मन-ही-मन निर्णयात्मक संकल्प कर लिया कि अपने लेखन का केन्द्र-बिन्दु ऐतिहासिक सामग्री को ही बनाना है।

इसी सन्दर्भ में एक कथा की ओर ध्यान आकर्षित करना समीचीन प्रतीत हो रहा है कि इतिहास मात्र वही नहीं होता है जो घट चुका है अथवा काल के गाल में समा चुका है, बल्कि यह सत्य भी कम सशक्त नहीं है,कि जो घट रहा है, वह इतिहास की छाया है और जो घटने वाला है वह इतिहास का आभास है। भ्रमवश इतिहास को संकुचित अर्थों में ही ग्रहण किया जाता है, जबकि वस्तुतः इतिहास मानव जीवन और उससे सम्बन्धित सभी दृश्य-अदृश्य विचारों, घटनाओं, प्रतिक्रियाओं और प्रतिफलों का एक ऐसा सतत् प्रवाह है, जो अविरल और अबाध रुप में सदा विद्यमान रहता है, किन्तु जो इतिहास को मात्र गड़े मुर्दे, अतीत के खंडहर या काल का कंकाल मात्र माने बैठे हैं, उनके भ्रम को इतिहास में प्राण फूँककर ही भंग किया जा सकता है, और इस कार्य के श्रेय का सेहरा केवल ऐतिहासिक उपन्यास के सिर पर ही बाँधा जा सकता है। प्रमाणस्वरुप 'रामायण' और 'महाभारत' को ले सकते हैं। ये, दोनों ही कालजयी रचनाएॅ 'काव्योपन्यास' की कोटि में परिगणित की जा सकती हैं। इनका कथात्मक संयोजन, चारित्रिक चित्रांकन, घटनात्मक संगुम्फन, वैचारिक विवेचन तथा तत्युगीन चेतनात्मक अभिव्यंजन दोनों ही अमर रचनाओं को अपन्यास के अधिक समीप प्रतिष्ठित करता है। मात्र तत्कालीन प्रचलित एकमात्र काव्य-शिल्प के कारण रचनाएँ सुपरिचित औपन्यासिक रुप से दूर प्रतीत होते हैं। इसी प्रतीति के कारण ही दोनों रचनाओं को 'काव्योपन्यास' की कोटि में रखा गया है। यदि प्रयुक्त शिल्प पर विशेष बल न दें तो कथात्मक सौष्ठव के आधार पर इन्हें 'सर्वकालीन उपन्यास' की कोटि में अधीष्ठित किया जा सकता है। काव्य-शिल्प प्रयोग तो मात्र आवरण है, आत्मा तो दोनों रचनाओं की कथात्मक ही है, जो आधुनिक दृष्टि में 'अपन्यास की संवेदना' समझी जाती हैं। अतीतकालीन घटनाओं को जो विश्वसनीयता प्राप्त होती है या आत्मविस्तार की भावना के वशीभूत हो मानव अतीत के प्रति अव्यक्त व्यामोह से मुक्त नहीं हो पाता है, उसे वर्तमान के धरातल पर विश्लेषित करने की सामर्थ्य केवल ऐतिहासिक उपन्यास में ही सम्भव है, विश्वास के इसी बल ने अभिमुख किया मुझे ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन की दिशा में।" (आत्मकथा से)

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, कि रचनाकार का संवेदनशील मन-मस्तिष्क कभी भी समकालीन विचारों और घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रह पाता है। प्रत्येक विचार और

घटना लेखकीय सोच को प्रभावित अवश्य करती है और प्रतिक्रिया स्वरुप वही प्रभाव रचना में विचार घटना, चरित्र अथवा दृश्य द्धारा प्रतिफलित होता है। चूंकि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन विशेष श्रमसाध्य और समय सापेक्ष्य कार्य है, अतएव ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन कार्य भी सतत नहीं हो पाता है। बीच-बीच में समकालीन प्रतिक्रियाओं को भी सामाजिक-उपन्यासों या दृश्यचित्रों के रूप में साहित्यिक अभिव्यक्ति प्राप्त होती रहती है।

इसे अस्वीकारना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है कि रचना के प्रेरणा स्त्रोत बाह्य नहीं होते हैं, किन्तु रचनाकार की अंतःप्रेरणा कम सम्प्रेरक नहीं होती है। बल्कि यह तक कहना अत्युवित न होगी कि अंतःप्रेरणा जितनी ही स्वाभाविक और प्रबल होगी, रचना उतनी ही प्रभावपूर्ण होगी। रचनाकार की रचनात्मक आत्मा के संदर्शन रचना में तभी संभव होते हैं, जब अंतःप्रेरणा शुद्ध और मौलिक रुप में रचना में समुचित स्थान की अधिकारिणी बनती है। यह भी कम उल्लेखनीय नहीं है कि प्रारम्भिक रचनाओं में बाह्य प्रेरणा अधिक बलवती सिद्ध होती है, और शनैः शनैः कालान्तर में इसी बाह्य प्रेरणा का स्थान अंतः प्रेरणा ग्रहण करती चली जाती है। जिन शीर्षस्थ रचनाकारों से भेंटवार्ता सम्भव हुई, लगभग सभी ने स्वीकार किया कि रचना तो मन की अनुमूल्यात्मक तरंग होती है। बाह्य जगत उसे किस रुप में स्वीकारता है, यह उसका काम है। सम्भवतः इसी कारण रचना के सम्बन्ध में विविध प्रतिक्रियाएँ सुनने को मिलती हैं। वैविध्य के इस अस्तित्व का आधार ही है अंतःप्रेरणा की रचना में अभिव्यक्ति।

रचनाकार सासं तो वर्तमान में लेता है, किन्तु जीता वह भूत और भविष्य में भी है, कभी वह एक कालखण्ड में और कभी वह दो और तीनों मापखण्डों में एक साथ जीता है। किस कालखण्ड विशेष से क्या ग्रहण करता है रचनाकार और उसकी अभिव्यक्ति द्धारा किस कालखण्ड का आभास कराता है -इसे रचनाकार की अंतःप्रेरणा ही रचनात्मक कृति के रुप में अभिव्यक्त होकर प्रदर्शित करती है। बल्कि यह कथन अधिक समीचीन होगा कि रचनाकार की अंतःप्रेरणा ही दूसरों के लिए बाह्यप्रेरणा प्रमाणित होती है।

इसी सन्दर्भ में एक अनुभूत्यात्मक सत्य की ओर संकेत करना कम महत्वपूर्ण न होगा कि कभी-कभी एक पूर्ववर्ती रचना परवर्ती रचना क्रिया के लिए प्रेरणा सिद्ध होती है। प्रायः ऐसा

होता है, कि एक रचना विशेष के निर्माण-काल में दूसरी रचना का विचार मन में अंकुरित हो उठता है। यह अंकुरण इतना रहस्यपूर्ण होता है कि स्वयं रचनाकार तक इसके कारण से अनभिज्ञ बना रहता है। विरल रुप में कभी-कभी वर्तमान रचना के अंतिम रुप प्राप्त करने के पूर्व ही दूसरी रचना अधिक महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी बन बैठती है, और अंतिम आकार ग्रहण कर सहसा प्रगट हो जाती है। अनुभूत्यात्मक सत्य होने पर भी लेखक का ध्यान इस ओर अधिक नहीं जाता है, क्योंकि यह उसकी अंतःप्रेरणा प्रसूत रचना-प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। अभिन्नता प्रायः उपेक्षा का शिकार बनती है। और फिर न इस सम्बन्ध में रचनाकार से कोई पूछता है और न रचनाकार इसे उद्‌घाटित करने के लिए व्यग्र ही प्रतीत होता है। जागतिक सृष्टि की भाँति साहित्यिक रचनात्मकता भी इतनी ही रहस्यपूर्ण है कि इसका जितना ही उद्‌घाटन हो रहा है, यह उतनी ही रहस्यपूर्ण प्रतीत होती जा रही है। कदाचित् इसीलिए रचनाकार को स्रष्टा और रचना को सृष्टि की संज्ञा प्रदान की गई है। 'रामायण' और 'महाभारत' के स्रप्टाओं की तो भगवान की कोटि का स्वीकार कर पूजा-अर्चना तक की जाती है। और सच भी है कि जितना रचनाकार के समक्ष पाठक या श्रोता श्रद्धाभाव से विनंत होता है, उतना किसी भी निर्मित के निर्माता के सामने भोक्ता कृतज्ञता से प्रणत नहीं होता है।

निष्कर्षतः इसे स्वीकारना ही श्रेयष्कर होगा कि रचनाकार की प्रेरणा रचना की भावभूमि ही होती है, जिसे पल्लवन और संविकासन के पलों में अन्यान्य बाह्य तत्व उत्प्रेरक के रुप में रचना को सशक्त और आकर्षक रुप प्रदान करते हैं। हाँ, वह रचना विशेष कालान्तर में कितने रचनाकारों की प्रेरणा-भूमि बनती है - यह कालसापेक्ष्य होता है। प्रायः प्रेरणा अंतःग्राह्य शक्ति सापेक्ष्य भी होती है। कौन किससे किस मात्रा में सम्प्रेरित होकर क्या आकार धारण करता है - यह साकार-दर्शन के पश्चात् ही निर्धारित हो पाता है।

डॉ. त्रिपाठी कहते हैं कि - "इसे स्वीकारने में मुझे कोई संकोच नहीं कि मेरी प्रेरणा-स्रोत प्रारम्भ में तो विश्व की विभिन्न भाषाओं की कालजयी रचनाएँ रही हैं, समकालीन समाचारों और गतिविधियों ने भी मुझे कम उत्प्रेरित नहीं किया है, और मनन-चिन्तन भी प्रेरक रुप में योगदान नहीं रहा है, पर अंत में इतना मैं अवश्य कहना चाहूँगा कि मेरी रचनाएँ ही मेरी

प्रेरणास्त्रोत हैं, क्योंकि जब किसी पाठक के मुँह से किसी रचना विशेष की प्रशंसा में दो शब्द सुनने को मिलते हैं, तब वह रचना ही अपने सम्पूर्ण संरचनात्मक सौष्ठव के साथ साकार हो उठती है और उन क्षणों में मुझे अपनी रचना ही विशेष प्रेरक शक्ति के रुप में प्राणवंत प्रतीत होती है।"

इस प्रकार डॉ. त्रिपाठी ने अपनी आत्मकथा में स्वयं से सम्बन्धित विशिष्ट घटनाओं को तथा सूचनाओं को विस्तार के साथ उद्घाटित किया है। उनके जीवन के संदर्भ में इससे इतर और कुछ भी कह सकने की अपेक्षा ही नहीं रही।

<u>रचनाभूमि :</u>

डॉ. त्रिपाठी का विश्वास है, कि व्यक्ति को श्रमशील होना चाहिए। क्योंकि श्रम जीवन को सार्थक बनाता है, तथा श्रम के द्वारा ही असम्भव और अनुपलब्ध को रुप प्रदान किया जा सकता है। स्वयं परिश्रमी होने के कारण आपने जीवन के प्रारम्भकाल से ही भाग-दौड़कर उन स्थितियों की तलाश की जो प्रत्यक्ष रुप में प्रेरणा-स्त्रोत प्रमाणित हुई। यद्यपि आज भी आपकी आस्था अंतःप्रेरणा पर अधिक है, तथापि बाह्य परिस्थितियों का भी साहित्यिक रुप के निर्माण में कम योगदान नहीं है। साथ ही, शिक्षा और स्वाध्याय का योगदान भी पर्याप्त मात्रा में स्वीकारा जा सकता है। देशी-विदेशी भाषाओं के असंख्य औपन्यासिक कृतियों के अध्ययन ने आपको पर्याप्त मात्रा में उत्प्रेरित किया और सबसे अधिक प्रेरित किया उन रचनाकारों ने जिनके साथ उठ-बैठकर साहित्यिक वार्ताओं का रसपान किया। आपको जिन सुप्रसिद्ध रचनाकारों का सान्निध्य सुलभ हुआ, उनमें से भगवती प्रसाद वाजपेयी और श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि प्रमुख हैं। इन दोनों ही उपन्यासकारों ने समय-समय पर आपका मार्ग-निर्देशन ही नहीं किया, वल्कि प्रकाशन सम्बन्धी समस्या के समाधान में सम्भव सहयोग भी प्रदान किया। स्वयं डॉ. त्रिपाठी का कथन है कि अपने शोध कार्य के लिए हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ उपन्यासकारों के साक्षात्कार के सम्बन्ध में आपने जो यात्राएँ की वे भी कम उत्प्रेरक नहीं सिद्ध हुई। वृन्दावन लाल वर्मा और आ. चतुरसेन शास्त्री की रचना धार्मिता से डॉ. त्रिपाठी पहले से ही परिचित थे,

परंतु जब उनके सम्पर्क में आए तो उन्होंने आपको अधिक प्रभावित किया और इसे स्वीकारना कोई गलत न होगा कि उसके पश्चात् डॉ. त्रिपाठी की रचनाधार्मिता में पर्याप्त परिवर्तन आया। प्रवृत्ति से यात्राप्रिय होने के नाते अन्यान्य ऐतिहासिक स्थलों के दर्शनों ने भी आपको पर्याप्त उत्प्रेरित किया। समय के अनुसार बाह्य प्रेरणा की अपेक्षा अन्तःप्रेरणा भी उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है।

पारिवारिक स्थितियाँ :

डॉ. त्रिपाठी की पारिवारिक स्थिति सामान्य से यत्किंचित बेहतर है। आप स्वयं तो महाविद्यालय में शिक्षक है ही पत्नी भी एक महाविद्यालय में प्रधानाचार्या हैं। सुपुत्री विदेश के एक विश्वविद्यालय में शिक्षिका के रुप में जुड़ी हुई हैं। ज्येष्ठ पुत्र प्रकाशन व्यवसाय का स्वामी है, और कनिष्ठ पुत्र मेडिकल की शिक्षा प्राप्त कर रहा है। आर्थिक स्थिति भी सामान्य है। आपकी रचनाशीलता में पारिवारिक शान्ति का पर्याप्त योगदान रहता है, क्योंकि परिवार के सभी सदस्य अपने-अपने कार्यो में इतने व्यस्त रहते हैं, कि किसी भी तरह के विवाद की स्थिति ही नहीं होने पाती, बल्कि किसी कारण सब मिल-बैठकर बातचीत करते हैं, तब यही प्रतीत होता है, जैसे कि बहुत दिनों के बाद कहीं से आकर मिले हों। जिसके फलस्वरुप अभावजन्य आकर्षण तो कायम रहता ही है, साथ ही अप्रिय स्थितियाँ भी उत्पन्न नहीं होने पाती और पूरा परिवार परस्पर स्नेह, सौहार्द्र, प्रेम और सद्भाव में निमग्न रहता है।

सामाजिक परिस्थितियाँ :-

सामाजिक दृष्टि से डॉ. त्रिपाठी असामान्य नहीं है। बातचीत में कृपण होने के कारण अक्सर लोगों की शिकायतों का सामना करना पड़ता है, कि वह लोगों से बहुत कम मिलते हैं। किन्तु साहित्यिक सृजन के निर्वाह के लिए जैसे अवसर की उपेक्षा होती है, वह तभी सम्भव होता है, जब व्यक्ति सामाजिक कम और वैयक्तिक अधिक हो। जहाँ आपकी मौजूदगी अपरिहार्य होती है, आप उन्हीं सामाजिक कार्यक्रमों में दिखाई पड़ते हैं। अनावश्यक आमंत्रणों द्वारा संयोजित

कार्यक्रमों के प्रति आपके मन में उपेक्षा का भाव रहता है। स्थूल दृष्टि से असामाजिक प्रतीत होने वाले डॉ. त्रिपाठी की स्पष्ट विचार दृष्टि है कि साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से वह समाज के साथ आन्तरिक रुप से जितना जुड़े रहते हैं, उतना ही व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का चित्रांकन भी संभव होता है। अतएव, डॉ. त्रिपाठी शुद्ध रुप से सामाजिक प्राणी हैं, और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बड़ी निष्ठापूर्वक परिपालन भी करते हैं।

राजनीतिक परिस्थितियाँ :-

व्यक्ति का आधुनिक जीवन राजनीतिमय हो गया है। जीवन प्रतिफल श्रेष्ठ राजनीति से प्रभावित होता है। ऐसा माना गया है, कि राजनीति विहिन मानव के अस्तित्व की कल्पना तक असम्भव है। जब मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि राजनीति से प्रभावित है, तब रचनाकार भला कैसे राजनीति से अप्रभावित बना रह सकता है। डॉ. त्रिपाठी ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। इतिहास की तो आत्मा ही राजनीति होती है। आद्योपान्त इतिहास में राजनीति की ही चर्चा होती है, फिर भला ऐतिहासिक उपन्यासकार राजनीति के परे कैसे हो सकता है। डॉ. त्रिपाठी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में तत्कालीन राजनीति का ऐसा जीवन्त और स्वाभाविक चित्रण किया है, कि वह स्वाभाविक रुप से आधुनिक राजनीति से जुड़ जाते हैं। इसे इस रुप में भी स्वीकारा जा सकता है कि आधुनिक राजनीति ऐतिहासिक उपन्यासों में तद्युगीन राजनीति के रुप में ढली नज़र आती है, अर्थात् इसे भले ही अत्युक्ति समझा जाए किन्तु डॉ.त्रिपाठी की हर रचना ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक राजनीति से प्रभावित प्रतीत होती है।

धार्मिक परिस्थितियाँ :

डॉ. त्रिपाठी का मानव-धर्म में बहुत विश्वास है, वह देश काल, वर्ण और जाति के आधार पर बनाए हुए किसी धर्म में विश्वास नहीं रखते, बल्कि उनकी धार्मिक मान्यता का एक मात्र सूत्र है - एक मानव का दूसरे मानव के कल्याण के लिए चिन्तन ही नहीं वरन् कर्त्तव्य व

पालन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। आपकी रचनाओं में इसी सूत्र की विस्तृत व्याख्या पग-पग पर परिलक्षित होती है। धर्म के आधार पर युद्धोन्माद के कारण डॉ. त्रिपाठी बाह्य दृष्टि से धर्म के विरोधी दिखाई देते हैं, परंतु आपकी रचनाओं में धर्म के जिस रुप का चित्रण मिलता है, वह निश्चित ही श्लाघनीय है।

साहित्यिक परिवेश :

डॉ. त्रिपाठी का स्पष्ट मत है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ साहित्य की महत्ता कम हो जाती है। आधुनिक सभ्यता ने वैज्ञानिक विकास का रुप धारण कर लिया है, और विज्ञान का अभिप्राय है - तार्किक दृष्टि। जिसके विकास से पूर्वकालीन साहित्यिक परिस्थितियों में काफी परिवर्तन आ गया है, फिर भी अभिरुचि के अनुरूप व्यक्ति अपनी मनोनुकूल परिस्थितियों का पता खोज लेता है, या उसके निर्माण का प्रयास करता है। यद्यपि निर्माण कार्य से दुसाध्य माना गया है, तथापि मन को बहलाने के लिए साहित्यकार यथार्थ के साथ-साथ कल्पना का भी सहारा लेता है। यदा-कदा जो साहित्यिक संगोष्ठियाँ संयोजित होती हैं, उनमें डॉ. त्रिपाठी की पर्याप्त सहभागिता बनी रहती है। साहित्यिक वातावरण उनके लिए विशेष महत्व रखता है। जिनकी अभिरुचि साहित्यिक होती है, और जो रचनाधर्मी होते हैं, वातावरण स्वयं उनके अन्दर ही समाया रहता है, जब भी वह जैसा चाहते हैं, तभी अनुकूल वातावरण स्वनिर्मित हो जाता है। डॉ. त्रिपाठी का अभिमत है, कि वह वातावरण से नहीं प्रभावित होते, वल्कि उनकी रचनाओं की उपस्थिति से वातावरण विनिर्मित होता है।